शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अक्टूबर : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, आसोज, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : ६

सम्यक्त्वी-हंस

आत्मा के चैतन्य-सरोवर के शांत जल में केलि करनेवाले सम्यक्त्वी हंस को चैतन्य के शांतरस के अतिरिक्त बाह्य में पुण्य-पाप की वृत्ति और इन्द्रिय-विषयों की रुचि उड़ गई है; चैतन्य के शांत-आनन्द रस का ऐसा निर्णय (वेदनसहित) हो गया है कि अन्य किसी रस के वेदन में उन्हें स्वप्न में भी सुख का अनुभव नहीं होता। ऐसा सम्यक्त्वी हंस निरन्तर अपने ज्ञानानन्दमय शांतरस के सरोवर में केलि करता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१७४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है। पोस्टेजादि अलग (पृ० सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें० देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अक्टूबर : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, आसोज, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : ६

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[४५]

अपादानशक्ति

[अंक नं० १७१ से आगे]

[इस अपादानशक्ति के वर्णन द्वारा आचार्यदेव तुझे तेरी ध्रुवखान बतलाते हैं; उसकी गहराई में उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्न निकाल। जिसप्रकार रत्नों की खान से रत्न निकलते हैं; उसीप्रकार चैतन्यरत्न की ध्रुवखान आत्मा है, उसमें से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नों की प्राप्ति होती है।

उत्पाद-व्यय होते हैं, वह भाव भी आत्मा का ही है, और ध्रुव स्थायी भाव भी आत्मा का है; एकसाथ उन दोनों भाववाला आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है।—ऐसे अनेकान्तस्वभाव को पहिचानने पर ध्रुव के आश्रय से पर्याय में निर्मलता उल्लसित होती है।]

यह धर्म की बात है; धर्म के बिना कभी किसी जीव को सुख, शांति या मुक्ति नहीं होती। धर्म आत्मा में होता है; आत्मा से भिन्न अन्य किसी पदार्थ में धर्म नहीं होता। इसलिये जिसे धर्म

करना हो, उसे आत्मा का स्वरूप जानना चाहिये। आत्मा का स्वरूप जानने के लिये उसके त्रिकाली धर्मों का यह वर्णन चल रहा है; आत्मा के त्रिकाली धर्मों को जानने से उसके आश्रय से मोक्षमार्गरूप धर्म प्रगट होता है।

चैतन्यमात्र भाव से लक्षित आत्मा अनंत शक्ति का भण्डार है; उसकी कुछ शक्तियों का वर्णन चल रहा है। अनंत शक्तियों का वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता; वाणी में तो कुछ प्रयोजनभूत शक्तियों का वर्णन आता है। यहाँ ४१ से ४६ तक की छह शक्तियों में कर्म, कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—इन छह कारकों का वर्णन है; उनमें से चार कारक शक्तियों का वर्णन हो गया है; अब अपादानशक्ति कहते हैं;—'उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अपाय (-नाश) होने पर हानि को प्राप्त न होनेवाले ऐसे ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति है।' उत्पाद-व्ययरूप भाव क्षणिक हैं, उनका नाश हो जाता है, तथापि आत्मा का ध्रुव स्वभाव कहीं नाश को प्राप्त नहीं होता, वह तो ज्यों का त्यों स्थित रहता है; और उस ध्रुव-स्थायी भाव में से ही नया-नया कार्य होता है।—इसप्रकार ध्रुवरूप से स्थिर रहकर नया-नया कार्य करने की आत्मा की अपादानशक्ति है। उत्पाद-व्ययरूप क्षणिक भाव में से नया-नया कार्य नहीं होता, किन्तु ध्रुवस्थायी भाव में से नया-नया कार्य होता है।—ऐसे निर्णय में ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से निर्मल-निर्मल कार्य ही होता है।

पर्याय का नाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं हो जाता, वह तो ध्रुव अपादानरूप से स्थित रहकर नई-नई पर्यायरूप होता रहता है। अनंत पर्यायें होकर नष्ट हो गईं, इसलिये द्रव्य के स्वभाव में से कुछ कम हो गया—ऐसा नहीं है। अज्ञानी को अपने ध्रुवस्वभाव की दृष्टि न होने से संयोग में कमी आने पर, मानों मैं कम हो गया, अथवा पर्याय का नाश होने पर मानों मेरे आत्मा का ही नाश हो गया—इसप्रकार संदेह-भय और आकुलता बनी ही रहती है; इसलिये मृत्यु का भय उसे बना ही रहता है; ज्ञानी तो जानता है कि मेरे मरण नहीं है, मैं तो ध्रुव रहनेवाला हूँ; संयोग के कम होने से मेरा कुछ कम नहीं होता और पर्याय का नाश होने से मेरा नाश नहीं हो जाता। संयोग में से या नष्ट होती हुई पर्याय में से मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं लेता; इसलिये वह कोई मेरा अपादान नहीं है; ध्रुवस्थायी अपने स्वभाव में से ही मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य लेता हूँ, इसलिये मेरा आत्मा ही मेरा अपादान है।

कोई भी संयोग ध्रुव नहीं रहते; विकारीभाव भी ध्रुव नहीं रहते; वे सब बदल जाने पर भी

मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा ही ध्रुव रहता है; इसलिये मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। यह एक मेरा शुद्ध आत्मा ही ध्रुव होने से मुझे शरणभूत है—ऐसा जानकर धर्मी शुद्ध आत्मा का ही आश्रय करते हैं। शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब अध्रुव होने से अशरण है, इसलिये वह आश्रय करने योग्य नहीं है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा॥१९३॥

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन, यह कुछ भी जीव के ध्रुव नहीं है; ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। ऐसा होने से मैं अध्रुव ऐसे शरीरादिक को उपलब्ध नहीं करता, अर्थात् उनकी शरण नहीं लेता; ध्रुव ऐसे अपने शुद्ध आत्मा को ही उपलब्ध करता हूँ—उसी की शरण लेता हूँ। इसप्रकार शुद्ध आत्मा को ध्रुव जानकर उसमें प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है और मोह का नाश हो जाता है।

जो ध्रुव नहीं रहते, वे शरणरूप केसे हो सकते हैं? और उनके आधार से सुख कैसे होगा? संयोग और विकार तो अध्रुव हैं; वे अध्रुव, शरणभूत कैसे होंगे? वे किसी जीव को शरणभूत नहीं है। ध्रुवरूप तो अपना उपयोगस्वभावी आत्मा ही है; उसका कभी वियोग या नाश नहीं होता, इसलिये वह शरणभूत है तथा उसी की शरण में सुख है। इसलिये—

आ सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव शरणहीन अनित्य छे;
अे दुःख दुःखफल जाणीने अेनाथी जीव पाछो वले।

(-श्री समयप्राभृत, ७४)

ज्ञानी-सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा अपने आत्मस्वभाव को ध्रुव, शरणरूप, नित्य, सुखरूप और अबन्ध जानकर निर्भयरूप से अपने में एकाग्र होते हें और पुण्य-पापादि को अपने स्वभाव से भिन्न, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य, दुःखरूप तथा बन्धनरूप जानकर उनसे विमुख होते हें।

विकार में तथा किसी भी शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि दूसरे क्षण वह ध्रुवरूप से स्थिर रह सके; अरे! निर्मल पर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ध्रुवरूप से स्थित रहे। वह पर्याय स्वयं ही दूसरे क्षण नष्ट हो जाती है; उसमें से दूसरी पर्याय नहीं आती। एक पर्याय नष्ट होने पर भी द्रव्यस्वभाव से ध्रुव स्थित रहकर आत्मा स्वयं अन्य-अन्य पर्यायरूप से परिणमित होता है;

इसलिये ध्रुव में से पर्याय आती है। ऐसे ध्रुव-अपादानस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके उसकी शरण लेना, सो धर्म है।

पुण्य-पाप और शरीर तो नष्ट हो जाते हैं; तब फिर कोई दूसरा शरण है ?—तो कहते हैं हाँ... पुण्य-पाप और शरीर का नाश होने पर भी ध्रुवरूप से रहनेवाला ऐसा जो स्वभाव, वही शरण है। विकार का अथवा क्षणिक भाव का नाश होने पर, बौद्ध मान्यता की भाँति आत्मा कहीं सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता; क्षणिक भावों का नाश होने पर भी वह किंचित् हानि को प्राप्त नहीं होता—ऐसा एक ध्रुवस्वभाव आत्मा में है। उत्पाद-व्यय होता है, वह भाव भी आत्मा का ही है और यह ध्रुव स्थित भाव भी आत्मा का है।—एक साथ उन दोनों भाववाला आत्मा का अनेकान्त स्वभाव है।

मात्र पर्याय पर ही जिसकी दृष्टि है और ध्रुवभाव पर दृष्टि नहीं है, उसे तो आत्मा की क्षणिकता ही भासित होती है; इसलिये वह तो क्षणिक के आश्रय से अशरणरूप वर्तता है, उसे निर्मलता या शांति का अनुभव नहीं होता। यदि अपने ध्रुव स्थायी स्वभाव को जाने, तो उस ध्रुव में एकाग्र होकर उसमें से निर्मल पर्यायें निकाले। जिसप्रकार रत्नों की खान से रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यरत्न की ध्रुवखान है; इसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्न निकलते हैं। विकार की खान खोदे तो उसमें से सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते। अपादानशक्ति के वर्णन द्वारा आचार्यदेव तुझे तेरी ध्रुवखान बतलाते हैं... उसकी गहराई में उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्नों को निकाल। पर्याय तो प्रतिक्षण बदल जाती है; वह बदलता हुआ क्षणिकभाव शरण नहीं देता, तथा उसमें से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति नहीं होती। क्षणिक पर्यायों का नाश होने पर भी जिसे किंचित् आँच नहीं आती—ऐसा ध्रुवस्वभाव ही सम्यग्दर्शनादि का कारण है और उसी में से सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होते हैं। जिसप्रकार कोई स्थिर वस्तु पर दृष्टि लगाये तो वहाँ एकाग्रता हो सकती है, किन्तु अस्थिर वस्तु पर दृष्टि की एकाग्रता नहीं रह सकती। अपने स्वरूप में उपयोग की एकाग्रता करना, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है।

क्षणिक पर्यायें तो उत्पाद-व्यय से आलिंगित हैं; वे कहीं ध्रुव से आलिंगित नहीं है; त्रिकाली द्रव्यस्वभाव ध्रुव से आलिंगित है; उसकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। नष्ट होनेवाले भाव में से (अर्थात् पर्याय में से) धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ध्रुवस्थायी भाव में से (अर्थात् द्रव्य में से) धर्म की उत्पत्ति होती है। और शुद्ध द्रव्य की ध्रुवता के आश्रय से जो धर्मभाव प्रगट

हुआ, वह भी ध्रुव के साथ सदैव बना रहता है; यद्यपि उसमें उत्पाद-व्ययरूप परिणमन तो होता ही रहता है, किन्तु ध्रुव के आश्रय से वह परिणमन शुद्धरूप ही होता रहता है; उसमें बीच में अशुद्धता नहीं आती। इसप्रकार ध्रुवरूप से स्थित रहकर प्रतिक्षण अपने शुद्धपर्याय का अपादान हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। विकार, आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से नहीं निकलता, इसलिये उस विकार का अपादान होना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जीवों को ऐसा लगता है कि हम धर्म कहाँ से लें?—शरीर की क्रिया में से धर्म आता होगा? पुण्य-पाप में से आता होगा? किसी स्थान में से आता होगा?

आचार्यदेव समझाते हैं कि—ध्रुव में से धर्म लो! धर्म की खान तुम्हारा ध्रुव आत्मा ही है; वही धर्म का स्थान है; उसी में से तुम्हारा धर्म आता है। इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया में से, राग में से, बाह्य स्थानों में से या अन्यत्र कहीं से तुम्हारा धर्म नहीं आ सकता।

उत्पाद-व्ययरूप पर्याय तो दूसरे क्षण हानि को प्राप्त हो जाती है—उसका नाश हो जाता है, इसलिये अकेली पर्याय को देखने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं देता; किन्तु पर्याय का नाश होने पर भी जिसकी हानि नहीं होती, जो ध्रुवस्वरूप से स्थित रहता है—ऐसे स्वभाव से देखने पर आत्मा का यथार्थरूप दिखाई देता है। आत्मा ऐसा अपरिमित शक्ति का भण्डार है कि उसमें से सदैव निर्मल पर्याय लेते ही रहो, तथापि उसमें किंचित् हानि या अपूर्णता नहीं होती। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र कहाँ से निकालोगे?—अपरिमित शक्ति के भण्डार से; द्रव्यस्वभाव ही अपरिमित शक्ति का भण्डार है; उसका आश्रय करने से पर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप हो जाती है। इसके अलावा पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि उसमें से सम्यग्दर्शनादि दूसरी पर्याय प्रगट हो।

जिस प्रकार बीता हुआ काल वापिस नहीं आता, किन्तु भविष्यकाल वर्तमान-वर्तमानरूप होकर आता है, उसी प्रकार बीती हुई पर्याय वापिस नहीं आती; जो बीत जाती है, उस पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती, किन्तु त्रिकाल स्थायी द्रव्य ही वर्तमान-वर्तमान पर्यायरूप होकर आता है अर्थात् द्रव्य में से ही पर्याय आती है; इसलिये जिसे धर्म करना हो, उसे ध्रुवस्वभाव सन्मुख दृष्टि करना चाहिये। ज्ञान-दर्शन-आनन्द से परिपूर्ण ध्रुवस्वभाव में एकता करके जो पर्याय प्रगट होती है, वह पर्याय भी सम्यक् दर्शन-ज्ञान-आनन्दस्वरूप होती है और वही धर्म है।

आत्मा का ध्रुवस्वभाव ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें से विकार नहीं आता; विकार तो पर्याय का क्षणिकभाव है और वह भी पराश्रय से उत्पन्न हुआ भाव है। आत्मा का ध्रुवस्वभाव तो

ऐसा है कि उसमें से ज्ञान-आनन्द ही निकलता रहे; चाहे जितना ज्ञान-आनन्द निकालने पर भी वे घट नहीं जाते या कम नहीं होते। आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से आनन्द प्रगट कर-करके करोड़ों-अरबों-असंख्य वर्षों तक उसका उपभोग किया; अब आत्मा में उनका अभाव तो नहीं हो जायेगा?—ऐसी शंका धर्मी को नहीं होती। धर्मी तो अपने ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन करके आनन्द के उपभोग में पड़े हैं; स्वभाव की दृष्टि में वे ऐसे निःशंक हैं कि सिद्धदशा में सादि-अनंत काल तक परिपूर्ण आनन्द का प्रति समय उपभोग करूँगा, तथापि मेरे स्वभाव का आनन्द कम नहीं होगा; ऐसी मेरे ध्रुव स्वभाव की अचिंत्य शक्ति है। अहो! मेरे द्रव्य का ऐसा अचिन्त्य सामर्थ्य है कि प्रतिसमय परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द देता ही रहे, तथापि अनंत काल में भी उसमें किंचित् न्यूनता नहीं आती!

देखो, यह आत्मा की अपादानशक्ति! इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों बतला दिये हैं। अकेले उत्पाद-व्यय जितना ही आत्मा नहीं है, किन्तु ध्रुवरूप से स्थित रहकर उत्पाद-व्यय करनेवाला है। अपादानशक्ति से आत्मा ऐसा ध्रुव है कि उसमें से जब निर्मलता निकालना हो, तब निकल सकती है और जितनी निकलना हो, उतनी निकलती है। अनादिकाल से विकार किया; इसलिये ध्रुव में से निर्मलता प्रदान करने की शक्ति का घात हो गया—ऐसा नहीं है; ध्रुवस्वभाव की शक्ति तो ज्यों की त्यों परिपूर्ण वर्त ही रही है; जब अंतर्मुख होकर उसे ग्रहण करे, तब उसमें से निर्मलता प्रगट होती है और उसमें जितना एकाग्र हो, उतनी निर्मलता प्रगट होती है। अपने में से निर्मलता दे-देकर द्रव्य कभी थक जाये अथवा निर्मल पर्याय का देना बन्द कर दे—ऐसा नहीं होता; द्रव्य की शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। एक पर्याय बदलकर दूसरी; दूसरी बदलकर तीसरी; तीसरी बदलकर चौथी; चौथी बदलकर पाँचवीं;—इसप्रकार अनंत काल तक ध्रुव में से निर्मल पर्यायें आती ही रहती हैं, तथापि ध्रुवशक्ति का भण्डार किंचित् भी कम नहीं होता। अहो! ऐसे ध्रुवस्वभाव को जो प्रतीति में ले, वह साधक हो जाये और उसे ध्रुव में से निर्मल पर्यायों का ही अटूट प्रवाह चलता रहे। राग में से या पर में से मैं कुछ लाभ लूँ—ऐसी बुद्धि उसे स्वप्न में भी नहीं रहेगी। मेरे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का अपादान (जिसमें से उनकी प्राप्ति होती है वह) मेरा आत्मा ही है, अन्य कोई रागादिक मेरे धर्म का अपादान नहीं है; तथा मेरे आत्मा का स्वभाव निर्मल पर्यायों का ही अपादान होना है; रागादि का अपादान होना मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव के भान में उसमें से रत्नत्रयरूप निर्मल पर्याय प्रगट करके, उस निर्मलपर्याय के

अपादानरूप से धर्मी परिणमित होता है। इसप्रकार धर्मी जीव को ज्ञानमात्र परिणमन में 'अपादानशक्ति' भी निर्मलरूप से साथ ही उल्लसित होती है; इसलिये 'ज्ञानमात्र' होने पर भी भगवान आत्मा को अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित हो रहा है।

कोई जीव अनंत काल पूर्व सिद्ध हुए और कोई वर्तमान में सिद्ध हुए। जो पहले सिद्ध हुए उन्हें परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की अनंत पर्यायें प्रगट हुईं और नष्ट हो गईं, तथापि ध्रुवस्वभाव में किंचित् न्यूनता नहीं आई है; अनंत काल पूर्व मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध तथा वर्तमान में मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध—दोनों के ध्रुवस्वभाव का सामर्थ्य समान ही हैं; और इस आत्मा में भी उतना ही सामर्थ्य है। जब प्रगट करेगा, तब इस ध्रुवशक्ति में से ही निर्मल पर्याय प्रगट होगी, अन्यत्र कहीं से आनेवाली नहीं है।—ऐसी अपादानशक्ति आत्मा में है। परमाणु जड़ है, तथापि उसमें ऐसी अपादानशक्ति है कि अनादिकाल में विविध पर्यायें होने पर भी उसकी ध्रुवशक्ति कम नहीं हुई है कि अब पर्याय न हो। अनंत काल तक उसके ध्रुव अपादान में से पर्याय होती ही रहेगी—ऐसी उसमें शक्ति है। किन्तु इससमय परमाणु की बात नहीं है; अभी तो जीव की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। जीव के स्वभाव को जानने से सम्यक्ज्ञान विकसित हो जाता है। वह स्व-पर को यथार्थ जानता है। जीव के स्वभाव को जाने बिना पर का स्वभाव भी नहीं जाना जा सकता; इसलिये जीव के स्वभाव को जानने की ही प्रधानता है। यदि एक भी शक्ति को यथार्थरूप से जान ले तो अखण्ड आत्मस्वभाव लक्ष में आये बिना नहीं रहता, क्योंकि शक्ति, शक्तिमान से पृथक् नहीं है। शक्ति और शक्तिमान दोनों की प्रतीति एक साथ ही होती है। कोई कहे कि आत्मा को तो पहिचान लिया किन्तु आत्मा को शक्तियाँ प्रतीति में नहीं आईं, तो उसने वास्तव में आत्मा को जाना ही नहीं है। तथा कोई ऐसा कहे कि हमने आत्मा की शक्ति को तो जान लिया, किन्तु आत्मा को नहीं जाना; तो उसने वास्तव में आत्मा की शक्ति को जाना ही नहीं। अनंत शक्तिमान ऐसे आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना उसकी किसी शक्ति की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

संसार में से तो जीव कम होते हैं और सिद्ध में बढ़ते हैं;—यद्यपि संसारी जीवों की संख्या इतनी विशाल (अक्षय-अनंत) है कि वह कभी कम होती ही नहीं; तथापि जितने जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं, उतने संसार से तो कम होते ही हैं। किन्तु आत्मा में दो ऐसी अपादानशक्ति है कि उसमें अनन्तानन्त पर्यायें होकर नष्ट हों, तथापि उसके ध्रुव सामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं होता; ध्रुव अपादान शाश्वत ज्यों का त्यों है, उसमें से पर्यायें परिणमित होती ही रहती हैं। जिसप्रकार

लोकव्यवहार में कहा जाता है कि— 'विद्या दीयते वर्द्धमानः' विद्या देने से उसमें वृद्धि होती है; उसी प्रकार यहाँ आत्मा ज्ञान विद्या का ऐसा लोकोत्तर ध्रुव भण्डार है कि उसमें से चाहे जितनी विद्या पर्याय में आये, तथापि उसकी शक्ति में किंचित् न्यूनता नहीं आती; उसीप्रकार श्रद्धागुण में से सम्यग्दर्शन की पर्यायें सादि-अनंत काल तक प्रगट होती ही रहें, तथापि उसकी शक्ति कम नहीं होती; आनन्दशक्ति में से आनन्द का उपभोग करते ही रहो, तथापि उसकी शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती।—ऐसे अपने ध्रुव सामर्थ्य की दृष्टि करके उसमें एकाग्रता से धर्मात्मा, निर्मल पर्यायरूप से परिणमित होता ही रहता है। ध्रुव सामर्थ्यवान आत्मा की पहिचान होने पर उसकी दृष्टि से साधक का जहाज मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। जिसप्रकार समुद्र में ध्रुव तारे के लक्ष से जहाज चले जाते हैं, उसीप्रकार ध्रुव चैतन्य के विश्वास से साधक का जहाज पार हो जाता है; ध्रुव चैतन्यस्वभाव को ही दृष्टि के ध्येयरूप रखकर साधक आत्मा का जहाज निःशंकरूप से सिद्धपुरी में पहुँच जाता है। शरीर-मन-वाणी-पुण्य-पाप या पर्याय—इन सबका नाश होने पर भी तेरा स्वभाव ध्रुव है, वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता और न उसमें से कुछ कम होता है, इसलिये हे जीव! उस ध्रुव का आश्रय कर और अध्रुव का आश्रय छोड़। ध्रुव के आश्रय से उस स्वभाव में से सदैव ज्ञान-आनन्दमय निर्मलपर्यायें ही प्रगट होती रहेंगी।—इसप्रकार ध्रुव चैतन्यस्वभाव के विश्वास से ही आत्मा का जहाज, संसार समुद्र से पार होकर मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। अन्य कोई संसार से पार होने का उपाय नहीं है।

आत्मा का स्वभाव ऐसे अपादानरूप है कि उसमें से निर्मल पर्यायों की पूर्ति होती ही रहती है। आत्मा में शुद्धता का ध्रुव अपादान होने का स्वभाव है, परन्तु अशुद्धता का ध्रुव अपादान होने का स्वभाव नहीं है। अशुद्धता आत्मा के ध्रुव द्रव्य-गुण के साथ अभेद होती ही नहीं, इसलिये द्रव्य-गुण उसका अपादान नहीं है।

यह कर्ता, कर्म आदि सात विभक्तियाँ हैं, वे आत्मा के स्वरूप को पर से विभक्त तथा स्व से एकत्व बतलाती हैं। कर्ता शक्ति अन्य के कर्तृत्व से भिन्नता बतलाती है, कर्मशक्ति विभावकर्म तथा जड़कर्म से भिन्नता बतलाती हैं, करणशक्ति अपने स्वभाव को ही साधन बतलाकर अन्य साधनों से भिन्नता बतलाती हैं, सम्प्रदानशक्ति भिन्न सम्प्रदान का अभाव बतलाती है, अपादानशक्ति अपने से भिन्न अन्य आपादान से पृथक्त्व बतलाती है, अधिकरणशक्ति अपना ही आधार बतलाकर भिन्न आधार की उपेक्षा कराती है और सम्बन्ध शक्ति पर के सम्बन्ध से रहितपना बतलाकर स्व में एकता

कराती है।—इसप्रकार आत्मा की यह सब शक्तियाँ आत्मा को पर से भिन्न बतलाकर स्वभाव में एकता कराती हैं। श्री आचार्यदेव ने समयसार के प्रारम्भ में ही कहा था कि—

त्वमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम्॥५॥

जीवों ने जिसे अनादिकाल से नहीं जाना है—ऐसा आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप मैं अपने समस्त आत्मवैभव से दर्शाऊंगा; और तुम अपने आत्मवैभव से उसे प्रमाण करना। इसप्रकार आचार्यदेव ने आत्मा को अनेक प्रकार से स्वभाव से एकत्वरूप तथा परभावों से अत्यन्त विभक्तरूप बतलाकर भव्य जीवों पर महान उपकार किया है।

यहाँ आत्मा के ज्ञानादि का अपादान आत्मा स्वयं ही है, आत्मा से भिन्न अन्य कोई अपादान नहीं है;—ऐसा कहकर आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाया है।

जिसमें से आये, उसे अपादान कहा जाता है; ज्ञान कहाँ से आता है?

क्या शरीर में से ज्ञान आता है?—नहीं; इसलिये शरीर वह ज्ञान का अपादान नहीं है।

क्या वाणी या शास्त्र में से ज्ञान आता है?—नहीं; इसलिये वाणी या शास्त्र, वह ज्ञान का अपादान नहीं है।

क्या राग में से ज्ञान आता है?—नहीं; इसलिये राग, वह ज्ञान का अपादान नहीं है।

आत्मा में से ही ज्ञान आता है, इसलिये आत्मा ही ज्ञान का अपादान है।

देखो, यह महान स्वामित्व! अपना ध्रुवस्वभाव ही महान स्वामी है। अंतर्दृष्टि में अपने ध्रुव चिदानन्दस्वभाव का ही स्वामित्व स्वीकार किया है; उसी में ऐसी शक्ति है कि सम्यग्दर्शनादि का रक्षण और पोषण करता है। अपने में से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसे बनाए रखता है और जो प्रगट नहीं हुई, वह अपने में से देता है;—इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपना महान स्वामी है, स्वयं ही अपने योग-क्षेम का कर्ता नाथ है।

आत्मा के ध्रुवस्वभाव से हटकर वृत्ति का बाह्य में भटकना, वह संसार की खान है, और आत्मा का ध्रुवस्वभाव, वह मोक्ष की खान है। इसलिये बाह्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्नता जानकर अपने चिदानन्द ध्रुवस्वभाव में एकता कर, वही धर्म है और वही मोक्ष का उपाय है।

इसप्रकार पर से विभक्त और स्वभाव से एकत्वरूप ऐसा आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का अपादान है—ऐसा इस ४५वीं शक्ति में बतलाया है।

—यहाँ ४५ वीं अपादानशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

उपदेशामृत

(१) मुक्ति का मार्ग अंतर्मुख है; बहिर्मुख मोहभाव से संसार है। अंतर्स्वभाव में अवलोकन करने से अनादिकालीन संसार क्षणमात्र में विलय हो जाता है।

(२) शुद्ध स्वभावोन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करने से शुद्धता प्रगट होती है; उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है तथा उसी को धर्म कहते हैं।

(३) इस रीति के अलावा किसी अन्य रीति से धर्म करना चाहे तो कदापि नहीं हो सकता। धर्म की रीति क्या है ?—वह जीव नहीं समझते, तो फिर धर्म करेंगे कहाँ से ?

(४) धर्म की यथार्थ रीति को जाने बिना अनादि से बाह्यदृष्टिपूर्वक अन्य प्रकार से (जड़ की तथा पुण्य की क्रिया में) धर्म मान लिया है, किन्तु उससे उसके भवभ्रमण का अंत नहीं आया।

(५) भाई! तेरा धर्म तेरी चैतन्यशक्ति में से आयेगा अथवा राग में से ? राग में से धर्म आये ऐसा कभी नहीं होता। राग करते-करते धर्म हो जायेगा—यह मान्यता मिथ्या है। धर्म की रीति राग से भिन्न है।

(६) धर्म तो चैतन्यस्वभाव के आधार से होता है; राग के आधार से बन्धन मिलता है; तो फिर बन्धभाव का सेवन करते-करते मोक्षमार्ग हो जाये—ऐसा कैसे हो सकता है ?—कभी नहीं होता।

(७) जिसके ज्ञान में राग की रुचि है, उसके ज्ञान में चैतन्य की नास्ति है; क्योंकि उसके ज्ञान में राग से भिन्न चैतन्य का अस्तित्व भासित नहीं हुआ है।

(८) ज्ञानी-सन्त अपने अनुभवपूर्वक चैतन्य और राग की भिन्नता समझाते हैं। अरे जीव! राग से भिन्न चिदानन्दतत्त्व के अनुभव की यह बात सुनते हुए अन्तर से उसका उत्साह, प्रेम तथा स्वीकृति ला!

(९) चैतन्य का उत्साह प्रगट करके उसकी बात का श्रवण भी जीव ने कभी नहीं किया। यद्यपि वह बात सुनानेवाले तो अनन्तबार मिले, किन्तु जीव ने अन्तर में चैतन्य के उत्साहपूर्वक कभी श्रवण नहीं किया; राग के उत्साहपूर्वक ही श्रवण किया है।

(१०) यदि राग का उत्साह छोड़कर चैतन्य के उत्साहपूर्वक एकबार भी उसका श्रवण करे तो अल्पकाल में स्वभाव का अनुभव प्रगट होकर भव का अन्त आये बिना न रहे।

जीवास्तिकाय का व्याख्यान

[२]

(वीर संवत् २४८३, अषाढ़ कृष्णा १४ तथा अषाढ़ शुक्ला १
और वीर सं० २४८४ श्रावण कृष्णा १ के प्रवचनों से)

श्री 'पंचास्तिकाय' की २६ गाथाओं तक जीवादि छह द्रव्यों तथा पाँच अस्तिकायों का सामान्य वर्णन करने के पश्चात् २७ वीं गाथा से जीवास्तिकाय का विशेष व्याख्यान प्रारम्भ होता है। पंचास्तिकाय में जो मुख्य है, ऐसे जीवास्तिकाय का यह वर्णन है; उसमें से संसारदशावाले जीवों का वर्णन जीवत्व, प्रभुत्व आदि ९ बोलों से २७ वीं गाथा में किया; वह व्याख्यान 'आत्मधर्म' अंक १७० में आ गया है। तत्पश्चात् २८ वीं गाथा में उन जीवत्व, प्रभुत्व आदि ९ बोलों का अनुसरण करके मुक्तदशा वाले जीवास्तिकाय के निरुपाधिस्वरूप का वर्णन करते हैं।

मुक्तदशा को प्राप्त सिद्ध जीव कैसे हैं ? सो कहते हैं—

कर्ममलविप्रमुक्त ऊर्ध्वं लोकस्यान्तमधिगम्य।
स सर्वज्ञानदर्शी लभते सुखमनिन्द्रियमनंतम्॥२८॥

मुक्त आत्मा को कर्म की उपाधि नहीं होती; इसलिये वह निरुपाधिस्वरूप है; उसका यह वर्णन है। समस्त कर्ममल से मुक्त हुआ वह जीव अपने ऊर्ध्वगमनस्वभाव से ऊर्ध्वलोक के अंत में जाकर स्थिर होता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुआ वह जीव, मुक्तदशा में अपने इन्द्रियातीत अनंत सुख का सदाकाल अनुभव करता है।

देखो, यह सिद्धपद! इसका भी जीवास्तिकाय में ही समावेश होता है। और यह जीव भी ऐसी मुक्तदशारूप परिणमित हो, वह उपादेय है। संसारदशा में वर्तता हुआ जीव और सिद्धदशा में वर्तता हुआ जीव—दोनों का स्वरूप जानने के पश्चात्, संसारदशा में विभावरूप अशुद्धभावों का जो कर्तृत्व आदि है, वह हेय है—ऐसा समझकर उसे छोड़ना चाहिये और सिद्धदशा में जो सर्वज्ञता तथा अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव आदि है, वह उपादेय है—ऐसा समझकर उसकी आराधना का अंतर प्रयत्न करना चाहिये।

जो जीव संसारदशा में कर्मसंयुक्त था, वही जीव अपने स्वरूप की आराधना द्वारा कर्म का नाश करके जब मुक्त हुआ, तब मुक्तदशा में वह क्या करता है ?—सो कहते हैं:—

आत्मा, कर्मरज का परद्रव्यत्व होने से जिस क्षण सम्पूर्णरूप से कर्मरज से मुक्त होता है उसी क्षण अपने ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोक के अन्त को प्राप्त करके आगे गतिहेतुत्व का अभाव होने से वहाँ स्थिर रहता हुआ केवलज्ञान और केवलदर्शन निजस्वरूपभूत होने के कारण उनसे मुक्त न होता हुआ, अनंत अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

देखो, यह सिद्धजीवों का स्वरूप! इसमें अस्ति-नास्ति दोनों पक्षों से बात कही है।

कर्मरज, वह आत्मा से परद्रव्यरूप है;
केवलज्ञानादि, वे आत्मा के स्वरूपभूत हैं।

जीव मुक्तदशा में परद्रव्यभूत कर्मों से तो मुक्त होता है, किन्तु स्वरूपभूत ऐसे केवलज्ञानादि से मुक्त नहीं होता। आत्मा चैतन्यस्वरूप और कर्मरज अचेतन; वह कर्मरज, आत्मा से भिन्न होने के कारण आत्मा उससे तो छूट जाता है; परन्तु केवलज्ञान, सुख आदि तो आत्मा का स्वरूप ही है, वह कहीं उपाधि या परद्रव्य नहीं है, इसलिये मुक्त आत्मा, वह ज्ञान-सुख आदि निजस्वरूप से नहीं छूटता, पृथक् नहीं होता।—इसप्रकार अस्ति-नास्ति से सिद्ध का स्वरूप बतलाया।

मुक्त हुए आत्मा कहाँ रहते होंगे ? तो कहते हैं कि मुक्ति तो यहाँ मध्यलोक में ही होती है, और मुक्त होते ही वह आत्मा ऊर्ध्वगमन करके लोकाग्र में स्थिर होता है। जीव का ऊर्ध्वगमनस्वभाव ही लोकाग्र तक जाने का है; लोक से बाहर जाने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है; तथा निमित्तरूप से गतिहेतुरूप धर्मास्तिकाय का भी लोक के बाहर अभाव है।—इसप्रकार उपादान-निमित्त दोनों से समझाया है। जीव के उपादान में ही लोक से बाहर जाने की योग्यता नहीं है और निमित्त भी वैसा नहीं है। सिद्धलोक में जाते हुए स्वभाव ऊर्ध्वगमन के समय वह आत्मा कहीं संसारी नहीं है किन्तु मुक्त है; सिद्धपद को प्राप्त हो चुका है।

लोकाग्र में स्थित सिद्ध भगवन्त क्या करते हैं ?—केवलज्ञानादि निजस्वरूप से छूटे बिना अपने अनंत अतीन्द्रिय सुख का सदाकाल अनुभव करते हैं। अपने मिथ्यात्वादि भावों के कारण संसार में भटकता हुआ जीव, शुद्ध रत्नत्रय की आराधना द्वारा जब मुक्त होता है, तब वह मुक्त जीव कर्मरज से छूटता है क्योंकि वह तो परद्रव्य है; किन्तु वह मुक्तजीव अपने ज्ञान-आनन्द स्वभाव से नहीं छूटता क्योंकि वह तो अपना स्वरूप ही है। ऐसे स्वरूप को प्राप्त मुक्तजीव (सिद्धभगवन्त)

लोक के शिखर पर अपने अनंत आत्मिक सुख का निरन्तर अनुभव करता है:—

सादि-अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंत दर्शन-ज्ञान अनंत सहित जो।

ऐसी मुक्तदशा भी जीवास्तिकाय की ही एक अवस्था है।

अब, जिसप्रकार पहले संसारी जीव के वर्णन में जीवत्वादि नौ बोल का कथन किया था उसीप्रकार वे जीवत्वादि नौ बोल सिद्धदशा में भी किसप्रकार है, सो समझाते हैं:—

(१) उस मुक्त आत्मा को भावप्राण धारण जिसका लक्षण है—ऐसा 'जीवत्व' होता है;

(२) चिद्रूप जिसका लक्षण है—ऐसा 'चेतयितृत्व' होता है;

(३) चित्परिणाम जिसका लक्षण है—ऐसा 'उपयोग' होता है;

(४) प्राप्त किये हुए समस्त आत्मिक अधिकारों की शक्तिमात्र 'प्रभुत्व' होता है;

(५) समस्त वस्तुओं से असाधारण ऐसे स्वरूप की निष्पत्तिमात्र 'कर्तृत्व' होता है;

(६) स्वरूपभूत स्वातंत्र्य जिसका लक्षण है—ऐसे सुख की उपलब्धिरूप 'भोक्तृत्व' होता है;

(७) पूर्व के अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहनारूप 'देहप्रमाणपना' होता है; और

(८) कर्म आदि समस्त मूर्त पदार्थों की उपाधि के सम्बन्धरहित ऐसा आत्यंतिक 'अमूर्तपना' होता है;

—इसप्रकार यह जीवत्व आदि आठ बोल तो उपरोक्तानुसार सिद्ध भगवन्तों को भी होते हैं; परन्तु—

(९) उस मुक्त आत्मा को 'कर्मसंयुक्तपना' तो होता ही नहीं; भावकर्म तथा द्रव्यकर्म से वह अत्यन्त विमुक्त है।

अब, सिद्धभगवन्तों के उपरोक्त नौ बोलों का विस्तार होता है।

(१) सिद्धभगवन्तों का जीवत्व

सिद्ध भगवन्त मुक्तदशा में शरीर-इन्द्रियाँ-मन या आयु आदि से पार अपने शुद्ध चैतन्यरूप भावप्राण से जीते हैं; ऐसा उनका जीवत्व है। संसारदशा में व्यवहार से दस प्राण से जीनेरूप जो जीवत्व था, उसका यहाँ अभाव है; क्योंकि वह जीव का वास्तविकरूप नहीं था किंतु उपाधिरूप था; इसलिये मुक्तदशा में वह छूट गया। मुक्तदशा तो निरुपाधिस्वरूप है; परद्रव्य की उपाधिवाला जीवत्व वहाँ नहीं होता; वहाँ तो अपने स्वभावभूत चैतन्यप्राण द्वारा निरुपाधि जीवत्व होता है।

केवलज्ञान, सुख आदि भावप्राण हैं, उन भावप्राणों द्वारा सिद्ध-भगवन्तों को जीवत्व है।

अज्ञानी जीवों को देहदृष्टि से जीव, शरीरयुक्त ही भासित होता है, अर्थात् देहाधीन जीवत्व ही भासित होता है; किन्तु देह रहित अतीन्द्रिय आत्मजीवन उन्हें भासित नहीं होता। अहा! सिद्ध भगवन्त, देह के बिना ही अतीन्द्रिय आत्म-जीवन जीते हैं, देह के सम्बन्धवाला जीवन तो अल्पकालीन है और इस देह के सम्बन्ध से रहित सिद्ध भगवन्तों का जीवन तो सादि-अनंत है; उस जीवन के पीछे कभी मृत्यु नहीं है। अहा, ऐसी मुक्तदशावाले जीवास्तिकाय को जाने तो देहादि से आत्मा की भिन्नता का भेदज्ञान हो जाये और उसका परिणमन ऐसी मुक्तदशा की ओर ढल जाये।—इसप्रकार सिद्ध भगवन्तों का जीवत्व बतलाया।

संसारदशावाले जीव को तो कर्म की उपाधि थी; इसलिये उसके वर्णन में तो निश्चय और व्यवहार—ऐसे दोनों प्रकार से कथन करके उसका निरुपाधि तथा सोपाधि स्वरूप बतलाया; परन्तु इन मुक्तदशावाले सिद्ध जीवों को तो कर्म की उपाधि नहीं है; वे निरुपाधि हैं; इसलिये उनके वर्णन में निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार नहीं उतरते।

(२) सिद्ध भगवन्तों का चेतयितृत्व

चिद्रूप जिसका लक्षण है—ऐसा चेतयितृत्व सिद्ध भगवन्तों के भी होता है। इसप्रकार संसारदशा में या मुक्तदशा में जीव को सदैव चेतकपना है। चेतना अर्थात् अनुभव करना; संसारदशा में अज्ञानी जीव राग-द्वेष या हर्ष-शोक का ही अनुभव करता था; मुक्तदशा में सिद्ध भगवन्त अपने पूर्णानन्द का अनुभव करते हैं।—इसप्रकार पूर्ण आनन्द के अनुभवरूप चेतयितृत्व सिद्ध भगवन्तों को है।

(३) सिद्ध भगवन्तों का उपयोगत्व

मुक्तदशा में भी आत्मा को चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग होता है। अनादिसंसार से लेकर जीव उपयोगस्वरूप ही रहा और सिद्धदशा में भी जीव उपयोगस्वरूप है। इसप्रकार अपने उपयोग लक्षण को जीव कभी नहीं छोड़ता। मुक्तजीव ने शरीर को तो छोड़ दिया है; इन्द्रियाँ भी छोड़ दी है; आठों कर्मों को भी छोड़ दिया है; रागादि विभावों को भी छोड़ दिया है; किन्तु अपने उपयोग को नहीं छोड़ा है। ऐसे सिद्ध भगवन्तों को जानने पर, "सिद्ध भगवन्तों के जो छूट गया है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, और जो सिद्ध भगवन्तों में रहा है, वही मेरा स्वरूप है"—इसप्रकार अपने शुद्धस्वरूप की पहिचान होती है। ऐसा सिद्धपद जीव की एक पर्याय है; वह पर्याय, जीवद्रव्य में से

ही प्रगट होती है; इसलिये मैं भी अपने द्रव्य में से ऐसी सिद्धदशा प्रगट कर सकता हूँ;—ऐसी अंतर्प्रतीति करने पर साधकपना प्रगट होता है—स्वयं सिद्ध भगवान का नंदन हो जाता है; और फिर अल्पकाल में सिद्ध भी हो जाता है।

(४) सिद्ध भगवन्तों का प्रभुत्व

सिद्ध भगवन्तों को कैसा प्रभुत्व होता है?—तो कहते हैं कि—प्राप्त किये हुए समस्त आत्मिक अधिकारों की शक्तिमात्ररूप प्रभुत्व उनको होता है। केवलज्ञान, अनंत सुख, अनंतवीर्य,—इत्यादि आत्म-अधिकार हैं; संसारदशा में वे अधिकार पूर्णतया प्राप्त नहीं किये थे; अब सिद्धदशा में वे केवलज्ञानादि समस्त आत्म-अधिकार प्राप्त कर लिये हैं और उन केवलज्ञान, अनंतसुख आदि समस्त आत्म-अधिकारों का जीव स्वयं स्वतंत्ररूप से उपभोग करने की शक्तिवाला होने से वह प्रभु है। अहा! देखो, यह सिद्ध भगवन्तों की प्रभुता! अपनी प्रभुता द्वारा किन्हीं दूसरों पर अधिकार जमाते हों, ऐसा नहीं है; किन्तु उस प्रभुता द्वारा अपनी समस्त आत्मशक्तियों के सम्पूर्ण उपभोग पर अपना अधिकार है। सिद्ध भगवन्त लोकाग्र में स्थिर रहे हैं, वह भी उनका अपना ही स्वतंत्र आत्म अधिकार है; कहीं धर्मास्तिकाय आदि के आश्रय से वहाँ स्थिर नहीं हैं। आगे धर्मास्तिकाय न होने से उन्हें वहाँ स्थिर रहना पड़ा हो—ऐसी कोई पराधीनता नहीं है; स्वतंत्रता में किंचित् भी कमी नहीं है; सम्पूर्ण आत्म-अधिकारों से उनकी प्रभुता परिपूर्ण शोभायमान है।

संसारदशा के समय तो आस्रव-बंध या संवर-निर्जरा-मोक्ष करने में आत्मा की प्रभुता थी; वहाँ कर्म का सम्बन्ध होने के कारण उस कर्म का बंध-मोक्ष करने में भी आत्मा की प्रभुता कही थी; अब मुक्तदशा में तो कर्म की उपाधि ही नहीं है, इसलिये वहाँ भावकर्म का अथवा द्रव्यकर्म का बंध-मोक्ष करना नहीं रहा; किन्तु केवलज्ञान, अनंतसुख आदि समस्त आत्मिक अधिकारों के उपभोगरूप प्रभुता वहाँ है। संसारदशा में ज्ञान-सुख आदि अधिकार अल्प थे, इसलिये वहाँ समस्त आत्मिक अधिकारों का उपभोग नहीं था; अब सिद्धदशा में तो केवलज्ञानादि समस्त आत्मिक अधिकार प्रगट हो गये हैं और उनके स्वतंत्र उपभोगरूप प्रभुत्व है। इसप्रकार सिद्धदशा में जीव का प्रभुत्व जानना।

सिद्धभगवन्त आठ कर्मों से विमुक्त तथा अष्ट महागुणों से संयुक्त हैं; वे अतीन्द्रियरूप से आत्मा के स्वभाव-सुख का अनुभव करते हैं; अतीन्द्रिय आनन्दरस का पान करते हैं—शांत आनन्दरस सदैव पीते ही रहते हैं।—ऐसे सिद्धपद को प्राप्त मुक्त जीवों में जीवत्व, प्रभुत्व आदि

किसप्रकार हैं—उनका यह वर्णन चल रहा है।

मुक्तदशा में आत्मा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से छूट गया है किन्तु अपने केवलज्ञानादि अष्ट महागुणों से पृथक् नहीं हुआ है; उसे अपनी आत्मशक्ति के समस्त अधिकार प्रगट हो गये हैं; समस्त शक्तियों का सम्पूर्ण सामर्थ्य विकसित हो गया है; इसलिये अपनी आत्मशक्ति के सम्पूर्ण अधिकारों का अमल (उपभोग) करने में स्वतंत्र सामर्थ्यवान होने से वह आत्मा प्रभु है। इसप्रकार सिद्धदशा में आत्मा की प्रभुता जानना। यहाँ आस्रव-बंध या संवर-निर्जरा को करना नहीं रहा, इसलिये विकार परिणाम को स्वतंत्रता से करनेरूप जो प्रभुत्व था, वह यहाँ छूट गया है; तथा विकार का सर्वथा अभाव हो जाने से अब विकार को रोकूँ या छोड़ूँ—ऐसा भी नहीं रहा। निमित्तरूप से कर्म को बाँधने या छोड़ने में जो प्रभुत्व (संसारदशा के समय) था, वह भी यहाँ नहीं है; क्योंकि कर्म के साथ का सम्बन्ध ही बिलकुल छूट गया है; कर्म बन्ध करूँ—ऐसी उपाधि तो वहाँ नहीं है, किन्तु कर्म को छोड़ूँ—ऐसी भी उपाधि वहाँ नहीं रही। कर्मोपाधि से रहित, निरुपाधिकरूप से अपने आत्मिक गुणों की प्रभुता से सिद्ध भगवन्त शोभायमान हो रहे हैं।

(५) सिद्धभगवन्तों का कर्तृत्व

सिद्धभगवन्तों में जीवत्व, चेतयितृत्व, उपयोग और प्रभुत्व—इन चार बोलों का वर्णन किया। अब, सिद्धभगवन्त कर्ता हैं या नहीं?—तो कहते हैं कि-हाँ; किसप्रकार? —तो कहते हैं कि-समस्त वस्तुओं से असाधारण ऐसे निजस्वरूप को रचनेरूप कर्तृत्व है, इसलिये सिद्धभगवन्त भी कर्ता हैं। देखो, सिद्धभगवन्तों में निजस्वरूप को रचनेरूप कर्तृत्व है, किन्तु जगत में अन्य किसी पदार्थ को रचे या करें - ऐसा कर्तृत्व उनमें नहीं है। इसप्रकार भगवान निजस्वरूप के कर्ता हैं और पर के कर्ता नहीं हैं।

एकबार सिद्धभगवान का वर्णन सुनकर एक आदमी ने पूछा था कि वे सिद्धभगवान किसी का कुछ करते हैं या नहीं? उसे उत्तर दिया कि—सिद्धभगवान दूसरों का कुछ नहीं करते। यह सुनकर वह बोला कि—बस, अपना कुछ नहीं करते! तो ऐसे सिद्धभगवान हमारे किस काम के? अरे भाई! क्या तेरा कुछ कर दें, तभी सिद्धभगवान की महिमा है? अन्यथा नहीं? तो क्या तू सिद्धभगवान को पर का कर्ता बनाना चाहता है?—यह तो महान विपरीतबुद्धि है। यदि तेरा कुछ नहीं करते! तो ऐसे सिद्धभगवान को मानने के लिये तू तैयार नहीं है, इसलिये तू नास्तिक है। सिद्धभगवन्त प्रतिसमय परिणमित होते हुए अपने ज्ञान-आनन्दस्वरूप की रचना करते हैं; इसलिये

निजस्वरूप की रचना के कर्ता हैं; परन्तु जगत में पर का वे कुछ नहीं करते; समस्त जगत को जानते अवश्य हैं किन्तु किसी का कुछ करते नहीं हैं।

प्रश्नः—यदि अपना कुछ न करते हों ऐसे सिद्धभगवान को मानने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तरः—भाई; सिद्धभगवान तो हमारा कुछ नहीं करते—यह बात सच है; किन्तु सिद्धभगवान को जानने से हमें निजस्वरूप की पहिचान का लाभ होता है। अहा! ऐसे सिद्धभगवान... जिनके देह नहीं; इन्द्रियाँ नहीं; राग नहीं; और फिर भी जो परम सुखी हैं! इसलिये राग में या इन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है, किन्तु आत्मा के स्वभाव में ही सुख है।—इसप्रकार आत्मस्वभाव की प्रतीति करके स्वसन्मुख होना ही सिद्धभगवान की पहिचान का फल है। जैसे—हम दर्पण में देखें तो दर्पण हमारा कुछ नहीं कर देता; किन्तु दर्पण में देखने से अपना जैसा रूप है, वैसा प्रतीति में आ जाता है; उसीप्रकार सिद्धभगवान दर्पण के समान हैं; वे तो हमारा कुछ नहीं कर देते किन्तु उनकी पहिचान होने पर अपना शुद्धस्वरूप यथावत्—ज्यों का त्यों प्रतीति में आ जाता है और यही महान अपूर्व लाभ है। वहाँ भक्ति के कारण ऐसा भी कहा जाता है कि अहा! सिद्धभगवान मुझ पर प्रसन्न हुए; सिद्धभगवान ने मेरा परमहित किया; किन्तु धर्मात्मा को भान है कि सिद्धभगवान तो निजस्वरूप के ही कर्ता हैं, पर के कर्ता नहीं हैं। वंदित्तु सव्वसिद्धे... इत्यादि प्रकार से अपने अंतर में सिद्धों की स्थापना करके जो सिद्धपद को साधते हैं, वे आरोप से ऐसा कहते हैं कि सिद्धभगवान हमारे सिद्धपद के कर्ता हैं। किन्तु भगवान को विकल्प नहीं है कि मैं दूसरों को निमित्त होऊँ... भगवान तो निजस्वरूप के ही कर्ता हैं।

संसारदशा में जीव को कर्ता कहा, उसमें तो विकार का तथा कर्म का कर्तृत्व लिया था, किन्तु सिद्धभगवन्तों को विकार के कर्तृत्व का सर्वथा अभाव हो गया है; विकाररूप परिणमन उनको होता ही नहीं, और इसलिये निमित्तरूप से कर्म के कर्तृत्व का भी उनके अभाव है। अपने शुद्ध ज्ञान-आनन्दस्वरूप से परिणमित होते हैं, उसी का कर्तापना है। 'परिणमन' कोई उपाधि नहीं; परिणमित होना तो द्रव्य का स्वरूप ही है; निजस्वरूप होने से वह सिद्धदशा में भी रहता है। सिद्धदशा में भी आत्मा अन्य द्रव्यों के साथ एकमेक होकर परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य समस्त द्रव्यों से असाधारण अर्थात् भिन्न—ऐसे निजस्वरूप से ही परिणमित होता है; इसप्रकार सिद्धदशा में अन्य द्रव्यों से असाधारण ऐसे निजस्वरूप को रचनेरूप कर्तृत्व जानना।

(६) सिद्धभगवन्तों का भोक्तृत्व

सर्वज्ञ भगवान ने यह जगत छह द्रव्य के समूहरूप देखा है; छह द्रव्यों में से पाँच अस्तिकाय हैं; और उन पाँच में सबसे प्रधान 'जीवास्तिकाय' है। प्रत्येक आत्मा 'जीवास्तिकाय' है; उसी का यह व्याख्यान चल रहा है। संसार और सिद्ध—यह दोनों जीव की पर्यायें हैं; उनमें से संसारपर्याय में वर्तता हुआ जीव कैसा होता है, उसका व्याख्यान २७ वीं गाथा में आचार्यदेव ने नौ बोलों से किया। तत्पश्चात्, सिद्धदशा में वर्तता हुआ जीव कैसा होता है, उसका व्याख्यान चल रहा है। सिद्धदशा में वर्तते हुए जीव को जीवत्व, चेतयितृत्व, उपयोगत्व, प्रभुत्व और कर्तृत्व—यह पाँच बोल किसप्रकार होते हैं, सो कहा; अब छठवें बोल में भोक्तृत्व कहते हैं।

सिद्धभगवन्तों को जिसप्रकार निजस्वरूप को रचनेरूप कर्तृत्व होता है, उसीप्रकार निजस्वरूप के स्वाधीन सुख की उपलब्धिरूप भोक्तृत्व भी होता है। जीव को संसारदशा में साता-असाताजनित सुख-दुःख का जो उपभोग था, उसका तो यहाँ अभाव है; परन्तु आत्मा के स्वभावभूत अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख का तो सिद्धभगवन्त स्वतंत्ररूप से उपभोग करते हैं; इसलिये वे भोक्ता हैं। संसारदशा का इन्द्रियसुख तो पराधीन परतंत्र था और सिद्धदशा का अतीन्द्रियसुख तो स्वाधीन स्वतंत्र है। सिद्धभगवन्त ऐसे स्वतंत्र-स्वाधीन आत्मिक सुख के भोक्ता हैं।

(७) सिद्धभगवन्तों को देहप्रमाणत्व

सिद्धदशा में भी प्रत्येक जीव का अपना भिन्न आकार होता है;—कैसा आकार?—तो कहते हैं कि अन्तिम शरीर की अवगाहना जैसा। सिद्धदशा में जीव को शरीर नहीं होता, किन्तु लगभग अन्तिम शरीर की अवगाहना जैसा अरूपी आकार होता है; इसलिये उसे 'देहप्रमाणत्व' कहा जाता है।

यदि वस्तु का अपना स्वतंत्र आकार न हो तो अस्तित्व ही नहीं होगा। सिद्धालय में अनंत सिद्ध एक क्षेत्र में विद्यमान होने पर भी, प्रत्येक सिद्ध का अपना-अपना भिन्न आकार है। कोई ऐसा कहे कि सिद्धदशा में जीवों को भिन्न-भिन्न आकार नहीं होते तो वह बात मिथ्या है। कोई ऐसा कहे कि संसार में तो शरीर और कर्म बंधन से बँधा होने के कारण जीव को देहप्रमाणत्व भले हो, किन्तु शरीर और कर्मबंधन से मुक्त होने के पश्चात् तो वह समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है;—तो ऐसा कहनेवालों की बात मिथ्या है। मुक्तजीव की महिमा कहीं क्षेत्र की व्यापकता से नहीं है; मुक्तदशा में जीव को 'सर्व-ज्ञ' पना होता है, किन्तु 'सर्वव्यापक'पना नहीं होता; जो अन्तिम शरीर हो, उस

शरीरप्रमाण आकार सिद्धदशा में ज्यों का त्यों रह जाता है। आदिनाथ भगवान का शरीर पाँच सौ धनुषप्रमाण था, इसलिये सिद्धदशा में वह जीव उसी देहप्रमाण आकारवाला है और महावीर भगवान का शरीर ७ हाथ प्रमाण था, इसलिये सिद्धदशा में वह जीव उसी देहप्रमाण आकारवाला है। बड़े-छोटे शरीरप्रमाण आकार होने से कहीं उनके ज्ञान में न्यूनाधिकता नहीं है; ज्ञान तो समस्त सिद्धों का एक समान—परिपूर्ण है। मुक्त होने से पूर्व अन्तिम शरीरप्रमाण जैसा आकार था, वैसा ही सिद्धदशा में सदाकाल रहता है; इसप्रकार सिद्धभगवन्तों का 'देहप्रमाणत्व' जानना।

(८) सिद्धभगवन्तों का अमूर्तत्व

सिद्धभगवन्तों को शरीर-कर्म आदि मूर्त द्रव्यों की उपाधि से रहित अत्यन्त अमूर्तत्व होता है। वे सिद्धभगवन्त, इन्द्रियज्ञान के विषय नहीं होते; अवधि-मनःपर्ययज्ञान के विषय भी नहीं होते। स्वभावोन्मुख हुए अतीन्द्रियज्ञान द्वारा सिद्ध के स्वरूप का निर्णय होता है; मति-श्रुतज्ञान अन्तर्मुख होकर सिद्ध के स्वरूप का निर्णय करते हैं। सिद्धदशा में मात्र चैतन्यबिम्ब शुद्ध जीवास्तिकाय रह गया है; मूर्त पदार्थों का सम्बन्ध वहाँ सर्वथा छूट गया है। जहाँ सिद्ध हैं, वहीं यद्यपि जगत की अनंत कार्मणवर्गणाएँ भरी हैं, किन्तु सिद्धों का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिये वे अत्यन्त अमूर्त हैं। संसारदशा में भी आत्मा तो अमूर्त ही है, किन्तु मूर्त कर्मों के साथ सम्बन्ध होने के कारण उसे मूर्त भी व्यवहार से कहा जाता था; अब सिद्धदशा में तो मूर्त कर्मों की उपाधिरहित अत्यन्त अमूर्तपना हो गया है अर्थात् मूर्तपने का व्यवहार भी वहाँ लागू नहीं होता।

—इसप्रकार जीवत्व से लेकर अमूर्तत्व तक के आठ बोलों से मुक्त जीव के स्वरूप का वर्णन किया। अब, 'कर्मसंयुक्तपना'—ऐसा नौवाँ बोल है, वह तो संसारदशा में ही लागू होता है; मुक्तदशा में लागू नहीं होता ऐसा कहते हैं।

(९) सिद्धभगवन्तों को कर्मसंयुक्तपना नहीं है।

भावकर्मों तथा द्रव्यकर्मों का अत्यन्त नाश करके जो मुक्त हुए हैं—ऐसे सिद्धभगवन्तों को कर्मसंयुक्तपना तो नहीं ही होता; क्योंकि द्रव्यकर्मों एवं भावकर्मों से विमुक्ति हुई है। द्रव्यकर्म तो पुद्गल स्कन्ध हैं; उनका यहाँ अभाव है; और भावकर्म अर्थात् चिद्विवर्त; यानी क्रमशः एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय को जाननेरूप ज्ञान का परिवर्तन होता रहे, उसका नाम चिद्विवर्तन है; ऐसे चिद्विवर्तनरूप भावकर्म का भी सिद्धों को अभाव है; वे तो स्थिररूप से एक साथ समस्त ज्ञेयों को जानते हैं। इसप्रकार संसारदशा में जीव को निश्चय से भावकर्म से संयुक्तपना था और व्यवहार से

द्रव्यकर्मों से संयुक्तपना था; उन दोनों का सिद्धदशा में अभाव है; वहाँ निश्चय से या व्यवहार से किसी भी प्रकार का कर्मसंयुक्तपना नहीं है। वे सिद्धभगवन्त ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित और केवलज्ञानादि आठ महागुणों से संयुक्त हैं।

संसारदशा के समय जीव की ज्ञानशक्ति संकुचित हो गई थी, इसलिये वह थोड़े-थोड़े ज्ञेयों को क्रम-क्रम से जानती हुई बारम्बार बदलती थी; किन्तु सिद्धदशा में तो ज्ञानशक्ति सम्पूर्णरूप से विकसित हो गई है, इसलिये एकसाथ ही समस्त ज्ञेयों को जानती है,—एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय में उसका परिवर्तन नहीं होता; इस अपेक्षा से वह स्थिर है।—इसप्रकार मुक्तजीव को सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता होती है।

देखो, यह जीव की मुक्तदशा का स्वरूप! मुक्त जीव को सर्वज्ञता के कारण एकसाथ समस्त पदार्थों का ज्ञान वर्तता है; इसलिये एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेयों में उपयोग के भ्रमणरूप विवर्तन उन्हीं नहीं है; उस अपेक्षा से मुक्त जीव का ज्ञान 'कथंचित् कूटस्थ' भी कहा है। यद्यपि ज्ञान का प्रतिसमय परिणमन तो उसे भी होता ही रहता है; किन्तु एक विषय में से दूसरे विषय में उपयोग का भ्रमण होनेरूप क्रमिक ज्ञान का उसके अभाव है, उसे तो युगपत् सर्व पदार्थों का ज्ञान प्रतिसमय वर्तता ही रहता है; उसे पर्याय से पर्यायान्तररूप परिणमन है किन्तु ज्ञेय से ज्ञेयान्तररूप परिवर्तन नहीं है। इसप्रकार निश्चल चैतन्यशक्तिरूप सर्वज्ञपने की ओर सर्वदर्शीपने की उपलब्धि मुक्त आत्मा को होती है। मुक्त जीव के ऐसे स्वरूप का निर्णय, वह अपने शुद्धस्वभाव के निर्णय का हेतु है और वह निर्णय करने पर अपने उपादेयरूप ध्येय की स्पष्टता होती है। 'ध्येय' क्या है—वह तो ज्ञान में स्पष्ट होना चाहिये न! 'ध्येय' की ही स्पष्टता न हो और उसमें भूल हो तो साधन किसका करेगा? इसलिये यह सिद्धभगवान की बात कहीं सिद्धभगवान के लिये नहीं है; किन्तु जिसे संसार भ्रमण से छूटकर अपने सिद्धपद को साधना है—ऐसे आत्मार्थी मुमुक्षु जीव को अपना यथार्थ ध्येय और यथार्थस्वरूप समझाने के लिये यह वर्णन है।

मुक्तदशा में जीव का सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपना बतलाकर अब आचार्यदेव कहते हैं कि—यह सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपने की उपलब्धि ही द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावकर्म के कर्तृत्व का विनाश है; और उसी विकार के अनुभव के अभाव के कारण औपाधिक सुख-दुःख के भोक्तृत्व का अभाव है।

देखो, यह सर्वज्ञता! सर्वज्ञता भी जीव की एक पर्याय है; जीवास्तिकाय का ही वह एक विशेषरूप है; इसलिये सर्वज्ञता के निर्णय बिना जीवास्तिकाय का यथार्थस्वरूप नहीं समझा जा

सकता। सर्वज्ञता को प्राप्त सिद्धभगवन्तों को विकारी भावकर्मों का अत्यन्त अभाव है; इसलिये द्रव्यकर्मों का भी अभाव है। संसारदशा में भावकर्म-द्रव्यकर्म का जो कर्तृत्व था, उसका यहाँ विनाश हो गया है; तथा सर्वज्ञता में विकार के अनुभव का भी अभाव होने से उसे कर्मजनित सुख-दुःख का भोक्तृत्व भी छूट गया है।—तो काहे का भोक्तृत्व है?—कहते हैं कि स्वतंत्रस्वरूप की अनुभूतिस्वरूप अतीन्द्रियसुख का भोक्तृत्व सिद्ध भगवन्तों को है।

संसारदशा में जब ज्ञान की शक्ति अत्यन्त अल्प थी, तब समस्त ज्ञेयों को वह एकसाथ प्राप्त नहीं होता था, इसलिये थोड़े-थोड़े ज्ञेयों में क्रम-क्रम से भटकता था, वह ज्ञान खेदयुक्त थका हुआ था; इसलिये वह स्थिररूप से निजस्वरूप के आनन्द का अनुभव नहीं ले पाता था; किन्तु जहाँ सिद्धदशा में सर्वज्ञतारूप अचिन्त्य ज्ञान-सामर्थ्य का विकास हुआ, वहाँ विश्व के समस्त देशों को वह एक साथ पहुँच जाता है; लोक की भाँति अलोक भी विश्व का एक देश है; लोक-अलोक दोनों मिलकर विश्व है। सम्पूर्ण विश्व के समस्त ज्ञेयों को एकसाथ जान लेता है, इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान को अन्य ज्ञेयों में परिवर्तित होना नहीं रहा; इसलिये सुस्थितरूप से अपने स्वरूप के अनंत सुख को अनंतकाल तक भोगते हैं; उसमें खेद नहीं है; थकान नहीं है।

अहा, सिद्धभगवन्त सर्वज्ञतारूपी प्राण से सदाकाल जीते हैं; सर्वज्ञता एवं पूर्णानन्द ही उनका जीवन है। यदि एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय को जानने के लिये ज्ञान बदलता रहता हो तो वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती; चैतन्य की स्थिरता नहीं होती; पूर्ण आनन्द का उपभोग नहीं होता। जहाँ युगपत् सर्व ज्ञेयों का ज्ञान वर्तता हो, चैतन्य की स्थिरता हुई हो और पूर्ण आनन्द का उपभोग हो, वहीं सर्वज्ञता होती है। सर्वज्ञता को प्राप्त सिद्धभगवन्त आत्मा के अतीन्द्रियसुख का अनुभव करते हैं—उपभोग करते हैं। कैसा है वह सुख? स्वतंत्र स्वरूप की अनुभूति जिसका लक्षण है—ऐसा सिद्धों का सुख है; उस सुख को सिद्धभगवन्त सादि-अनन्तकाल तक भोगते ही रहते हैं। सर्वज्ञता और सुख से परिपूर्ण ऐसा सिद्धपद परम उपादेय है—ऐसा समझना सो जीवास्तिकाय को जानने का तात्पर्य है।

—इसप्रकार पंचास्तिकाय में प्रधानभूत ऐसे जीवास्तिकाय की संसारदशा और मुक्तदशा का स्वरूप बतलाया। उन दोनों को जानकर, उनमें से मुक्तदशारूप जीव परिणमित हो, वह उपादेय है—ऐसा समझना।

इस जीवास्तिकाय के व्याख्यान में बताये अनुसार जो आत्मा के स्वतंत्र कर्तृत्व; भोक्तृत्व,

जीवत्व, प्रभुत्व, उपयोगत्व आदि का निर्णय करता है; तथा सिद्धदशा में वर्तते हुए परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन-सुख का उपादेयरूप से निर्णय करता है, उसे अपने स्वभाव की सन्मुखता द्वारा विकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व दूर होकर स्वभाव के अतीन्द्रियसुख के उपभोगरूप सिद्धदशा प्रगट होती है। जीवतत्त्व का जो यथार्थ निर्णय किया, उसके फलस्वरूप जीव की उत्कृष्ट पर्यायरूप ऐसा सिद्धपद प्रगट हुआ है।—वह सिद्धपद जयवंत वर्ते!

—इसप्रकार यहाँ २८ वीं गाथा समाप्त हुई। सिद्धभगवन्तों को जो उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन और सुख होता है, उसका अब २९ वीं गाथा में समर्थन अर्थात् उसकी प्रशंसापूर्वक उसका अनुमोदन करेंगे।

वात्सल्य

धर्म और धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य—वह सम्यक्त्व का एक मुख्य अंग है; उस 'वात्सल्य अंग' के दृष्टांतरूप में श्री विष्णुकुमार प्रसिद्ध हैं, तथा श्रावण शुक्ला पूर्णिमा (जिसे रक्षापर्व भी कहा जाता है) वात्सल्य दिवस के रूप में प्रसिद्ध है; क्योंकि उस दिन श्री विष्णुकुमार ने परम वात्सल्यपूर्वक ७०० मुनियों की रक्षा की थी और नगरजनों ने उस दिन 'रक्षा का महान पर्व' मनाया था। उसी वात्सल्य प्रसंग की कथा यहाँ दी जा रही है।

१९ वे तीर्थंकर श्री मल्लिकुमार भगवान के शासन-काल में यह घटना हुई थी। उस समय उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा नाम का राजा राज्य करता था, वह विद्वान और धर्मात्मा था। उसके चार मंत्री थे। बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि। वे चारों मंत्री दुष्टात्मा एवं धर्म के शत्रु थे। उन मंत्रियों से घिरा हुआ राजा ऐसा लगता था मानों विषैले सर्पों से घिरा हुआ चन्दन वृक्ष हो।

एक बार श्री अकंपनाचार्य सात सौ मुनियों के विशाल संघसहित विचरते हुए उज्जयिनी

नगरी में पधारे। समाचार सुनते ही नगरजन भक्तिपूर्वक पूजन द्रव्य लेकर उनके दर्शनों के लिये समुद्र की भाँति उमड़ पड़े। नगर में अचानक ऐसी धमाधूम देखकर राजा ने मंत्रियों से पूछा कि—आज यह नगरजन इसप्रकार उल्लसित होकर कहाँ जा रहे हैं? दुष्ट मंत्रियों ने कहा : महाराज! नगर के उद्यान में जैन साधु आये हैं, उन्हीं की पूजा के लिये यह सब जा रहे हैं। यह सुनकर राजा ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि चलो, हम भी उनके दर्शन करें। वे अवश्य ही कोई महापुरुष होंगे। मंत्रियों की अनिच्छा पर भी राजा तो मुनियों के दर्शन करने गये और मंत्रियों को भी साथ जाना पड़ा।

संघ के नायक श्री अकंपनाचार्य द्वादशांग के पाठी एवं निमित्त-ज्ञानी थे। निमित्तज्ञान से किसी अनिष्ट प्रसंग का ज्ञान करके उन्होंने संघ के समस्त मुनियों को आदेश दिया कि राजा, मंत्री आदि दर्शन करने आयें तो उनके साथ कोई वाद-विवाद न करें; नहीं तो संघ पर कोई संकट आ जायेगा।

जब राजा और मंत्रीगण दर्शन करने आये, उस समय उस आज्ञा के अनुसार समस्त मुनि मौनसहित आत्मध्यान में लीन थे। ध्यानस्थ मुनियों की उपशांत मुद्रा देखकर राजा को अत्यन्त हर्ष हुआ। ...इसप्रकार मुनियों के दर्शन करके जब वे नगर की ओर लौट रहे थे, तब मंत्रियों ने कहा कि—''देखा राजन्! कितने मूर्ख हैं ये सब मुनि! बोलना भी नहीं आता। इसीलिये तो ध्यान का ढोंग करके चुपचाप बैठे रहे...'' इसप्रकार मुनियों की निन्दा करते हुए मंत्री राजा के साथ चले आ रहे थे।

उसीसमय सामने से श्रुतसागर नाम के एक मुनि आ रहे थे जो नगर में आहार लेने गये थे। उन्हें आचार्य महाराज की आज्ञा मालूम नहीं थी। मुनि को देखकर पापी मंत्रियों ने उनकी निन्दा करते हुए राजा से कहा कि—''देखिये, यह मुनि पेट भरकर बैल की तरह चला आ रहा है।'' मुनि ने मंत्रियों के वे निन्दावचन सुने... सुनकर भी उनका कर्तव्य था कि वे शांत रहते; परन्तु मुनिसंघ की निन्दा उनसे सहन न हुई। दूसरे, उन्हें गुरुआज्ञा की भी खबर नहीं थी; इसलिये उन्होंने मंत्रियों से कहा कि ''तुम्हें अपनी विद्या का मिथ्या अभिमान है; यदि तुममें विद्या हो तो मेरे साथ शास्त्रार्थ करो... फिर मालूम होगा कि बैल के समान कौन है!''

यह सुनकर अभिमानी मंत्रियों को क्रोध आया और वे मुनि के साथ शास्त्रार्थ करने लगे; किन्तु जिसप्रकार एक ही सूर्य चारों दिशाओं के अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसीप्रकार श्रुतसागर

मुनि ने स्याद्वादयुक्ति के बल से क्षणमात्र में उन चारों मंत्रियों को निरुत्तर कर दिया। अपमानित हुए वे मंत्री उससमय तो राजा के साथ नगर में चले गये। श्रुतसागर मुनि संघ में आये।

आचार्य के निकट आकर उन्होंने मार्ग में हुई घटना कह सुनाई। सुनते ही आचार्य महाराज ने कहा कि—अरे! तुमने उनके साथ शास्त्रार्थ किया, यह बहुत अयोग्य हुआ... संघ पर आपत्ति आ पड़ेगी... जो हुआ सो हुआ... अब समस्त संघ की रक्षा के हेतु तुम उसी स्थान पर जाकर कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित हो जाओ जहाँ वाद-विवाद हुआ है। आचार्यदेव की आज्ञा सुनकर श्रुतसागर मुनिराज किंचित् भी विचलित हुए बिना, मुनिसंघ की रक्षा के हेतु तुरन्त वहाँ से चल दिये और शास्त्रार्थ के स्थान पर मेरुसमान निश्चलता के साथ धैर्यपूर्वक कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गये।

इधर पराजित हुए मंत्री अपने मानभंग का बैर लेने के लिये रात्रि के समय मुनि का वध कर देने के विचार से नगर के बाहर आये.. और शास्त्रार्थ के स्थान पर खड़े हुए मुनिराज को देखकर बोले कि "यही हमारा अपमान करनेवाला है, इसलिये सर्वप्रथम इसी को परलोक पहुँचा दें..." ऐसी दुष्ट भावना से प्रेरित हो चारों मंत्रियों ने एकसाथ तलवारें उठाई और मुनिवर पर वार किया तो... !!

...मुनिराज के पुण्य प्रभाव से वहाँ वनदेवी आ पहुँची और चारों दुष्ट मंत्रियों को उसी हालत में कीलित कर दिया.. कील की भाँति वे इसप्रकार गड़ गये कि रातभर टस से मस न हो सके।

सबेरा हुआ और नगरजन वहाँ से निकले तो आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि एक मुनिराज अडिगता के साथ आत्मध्यान में लीन हैं और चारों मंत्री उठाई हुई तलवारों के साथ वहीं चिपक गये हैं! देखते ही देखते मंत्रियों की दुष्टता की बात सारे नगर में फैल गई और प्रजा देखने के लिये उमड़ पड़ी... राजा भी आ पहुँचे। उन्होंने मंत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि—"अरे दुष्ट पापियों! तुम इन निर्दोष मुनि की हत्या करने आये थे... धिक्कार है तुम्हें! ऐसे पापियों की मेरे नगर में आवश्यकता नहीं है।" ऐसा कहकर उन्होंने उन चारों मंत्रियों को गधे पर बिठाकर देश के बाहर निकलवा दिया। वहाँ से वे मंत्री हस्तिनापुर की ओर चले गये...

इसप्रकार धर्म के प्रभाव से मुनियों की रक्षा हुई और नगरजनों को अत्यन्त आनन्द हुआ... धर्म का ऐसा प्रभाव देखकर वे अपने हर्ष को न रोक सके... महान जयध्वनियों द्वारा उन्होंने आकाश को गुँजा दिया—'जैनधर्म की जय हो...'

मुनिसंघ का उपद्रव दूर हुआ, जानकर समस्त मुनियों ने अपना ध्यान समाप्त किया... और अकंपनाचार्यदेव ७०० मुनियों सहित उज्जयिनी से विहार करके पृथ्वी को पावन करते हुए विचरने लगे।

उस काल हस्तिनापुरी नगरी में महापद्म नामके नववें चक्रवर्ती राज्य करते थे। उनके पद्मकुमार, विष्णुकुमार आदि अनेक पुत्र तथा पुत्रियां थीं। एक बार विद्याधर उनकी आठ पुत्रियों का हरण कर ले गये और चक्रवर्ती के योद्धागण उन विद्याधरों को हराकर आठों पुत्रियों को लौटा आये। इस घटना से आठों पुत्रियां संसार से विरक्त हो गईं और उन्होंने अर्जिका व्रत धारण किया। विद्याधरों ने भी मुनिव्रत धारण किये और चक्रवर्ती महापद्म भी संसार से विरक्त होकर, अपने पुत्र पद्मकुमार को राज्य सौंपकर मुनि हो गये... उनके पुत्र विष्णुकुमार ने भी उनके साथ मुनिदीक्षा अंगीकार की। विशेष तपश्चरण के प्रभाव से विष्णुकुमार को विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई; किन्तु वे मुनिराज तो ध्यान में इतने लीन थे कि उन्हें विक्रियाऋद्धि प्रगट होने की खबर तक नहीं पड़ी।

इधर उज्जयिनी से निकाले गये बलि आदि चारों मंत्री भ्रमण करते-करते हस्तिनापुरी में आ पहुँचे और हस्तिनापुरी के पद्मराजा को बहुत समय से हैरान करनेवाले सिंहबल राजा को कैद करके ले आये। इससे पद्मराजा उन पर प्रसन्न हो गया और उन्हें अपना मंत्री पद दे दिया; तथा कहा कि तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँग लो; मैं तुम्हें वरदान देता हूँ। मंत्रियों ने कहा कि महाराज! अभी हमारा वरदान आपके पास ही रहने दीजिये; समय आने पर हम माँग लेंगे। राजा ने कहा : जैसी तुम्हारी इच्छा।

अब, श्री अकंपनाचार्य ७०० मुनियों के संघसहित धर्म वर्षा द्वारा धरती को पावन करते हुए हस्तिनापुरी में पधारे और वहीं एक उद्यान में चातुर्मास योग धारण किया। प्रजाजन अत्यन्त उत्साहपूर्वक उनकी वन्दना करने गये। अकंपनाचार्य के संघ का आगमन सुनते ही बलि आदि दुष्ट मंत्री उज्जयिनी में हुए अपने घोर अपमान का बदला लेने के लिये तीव्र द्वेषाग्नि से प्रज्वलित हो उठे और किसी भी प्रकार अपमान का बदला लेने की युक्ति ढूँढ़ने लगे। किन्तु वे जानते थे कि पद्मराजा उन मुनियों के परम भक्त हैं, इसलिये उनके समक्ष अपना वश नहीं चलेगा। उसी समय दुष्ट बलि को अपने पूर्वकाल के वरदान का स्मरण हुआ और बोला कि—"चिन्ता न करो, राजा के पास हमें जो वरदान लेना है, उसके बदले हम सात दिन का राज्य माँग लें... बस, शासन हाथ में आने पर राजा हमारे कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर पायेंगे।"

—ऐसा विचार करके दुष्ट मंत्री, राजा के पास आये और वरदान माँगते हुए बोले कि—''महाराज! हमारा जो वरदान शेष है, उसके बदले में हमें सात दिन का राज्य दे दीजिये।'' मंत्रियों की यह माँग सुनते ही राजा स्तब्ध रह गया। उसे किसी अनर्थ की आशंका हुई। किन्तु वचन दे दिया था, इसलिये लाचार था। फिर तो शासन की बागडोर सात दिन के लिये उन दुष्ट मंत्रियों के हाथ में आ पहुँची!... राज्य सत्ता मनुष्य के हाथ से राक्षसों के हाथ में चली गई!

बस, हो चुका! शासन काल में आते ही एक महान यज्ञ के बहाने उन्होंने मुनिसंघ पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया... जहाँ मुनि संघ विराजमान था, वहीं उनके चारों ओर यज्ञमण्डल की रचना करके, उसमें चारों ओर लकड़ियों के ढेर लगवा दिये और भीषण अग्नि प्रज्वलित करके उसमें पशुओं को होमना प्रारम्भ किया।—इसप्रकार उन नराधमो ने अकंपनाचार्यादि ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग किया। उस महापाप को न देख सकने से सूर्य भी अस्त हो गया!

इधर शांतमूर्ति मुनिवर तो अत्यन्त धैर्य पूर्वक उपसर्ग सहन करते हुए मेरु के समान निश्चल चित्त से परमात्मध्यान करने लगे! अहा... उन्हें तो शत्रु-मित्र के प्रति समदर्शिता वर्त रही है! उपसर्ग कर्ता के प्रति क्रोध नहीं है और घोर परीषह के भय से चलायमान नहीं होते। अहो, जिन्होंने अतिशय वीतरागता द्वारा अपने आत्मा को उन्नत बना लिया है—ऐसे जैन-मुनिवर क्या उपद्रवों से भयभीत होते हैं?—कभी नहीं! मुनिवर तो शांत चित्त से उपसर्ग सहन करते हुए आत्मचिंतन में लीन हैं।

मुनिसंघ पर ऐसे घोर उपसर्ग की खबर पड़ते ही हस्तिनापुरी में हाहाकार छा गया! श्रावक लोग चिन्तित हो गये... और हजारों श्रावकों ने प्रतिज्ञा ली कि जब तक मुनिसंघ का उपसर्ग दूर नहीं होगा और वे निर्विघ्नरूप से आहार ग्रहण नहीं करेंगे, तब तक हमारे अन्न-जल का त्याग है। धन्य है उन श्रावकों को!

❀ ❀ ❀

जब हस्तिनापुरी में उपरोक्त घटना हो रही थी, उस समय विष्णुकुमार के गुरु श्री श्रुतसागर मुनिराज मिथिलानगरी में विराजमान थे; वे निमित्तज्ञान (ज्योतिष आदि) के ज्ञाता थे। आकाश में अचानक ही श्रवण नक्षत्र को काँपते देखकर उन्हें ७०० मुनियों के घोर उपसर्ग का ज्ञान हुआ; तथा मुनिसंघ के प्रति वात्सल्य के कारण उनके मुख से 'हा...!'—ऐसा उद्गार निकल पड़ा। गुरुजी के मुख से निकला हुआ वह उद्गार सुनकर पुष्पदन्त नाम के क्षुल्लक ने उसका कारण पूछा। मुनिराज

ने कहा कि—'मुनिसंघ पर घोर उपसर्ग हो रहा है!' क्षुल्लक ने पूछा—'कहाँ महाराज?'—'हस्तिनापुरी में अकंपनाचार्य आदि ७०० मुनिवरों पर पापी बलि द्वारा भयंकर उपसर्ग किया जा रहा है।' मुनिराज ने उत्तर दिया। यह सुनते ही पुष्पदन्त क्षुल्लक को भी मुनि संघ के प्रति वात्सल्य उत्पन्न हुआ और पूछा कि 'प्रभो! मुनिसंघ की रक्षा का कोई उपाय?' श्री मुनिराज ने कहा कि 'हाँ, विष्णुकुमार मुनि को विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई है और उस ऋद्धि के बल से वे उपसर्ग को शांत करके मुनिसंघ की रक्षा कर सकते हैं।'

पुष्पदन्त क्षुल्लक तुरन्त विष्णुकुमार मुनि के पास पहुँचे और श्री गुरु द्वारा कही गई घटना उन्हें सुनाई। विष्णुकुमार मुनि को तो अपनी विक्रियाऋद्धि का पता भी नहीं था; पुष्पदन्त द्वारा ज्ञात होने पर उन्होंने परीक्षा करने के लिये अपना हाथ बढ़ाया तो कहीं भी रुके बिना वह दूर-दूर तक चला गया। मुनिसंघ पर हो रहे उपसर्ग का हाल सुनकर उनका हृदय साधक संतों के प्रति अतिशय वात्सल्य से छलक उठा और वे तत्क्षण हस्तिनापुर पहुंचे। वहाँ अपने भाई-राजा पद्म के पास जाकर कहा कि 'अरे बन्धु! यह क्या? तुम्हारे राज्य में मुनियों पर अत्याचार!!' राजा पद्म, विष्णुकुमार के चरणों में गिरकर आँसू बहाते हुए बोले : 'प्रभो! राज्य सत्ता मेरे हाथ में नहीं रही। दुष्ट बलि ने मुझे वचनबद्ध करके शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली है, इसलिये मैं विवश हूँ। हे नाथ! आप महा समर्थ हैं; किसी प्रकार आप ही यह उपसर्ग दूर करके शीघ्र मुनिसंघ की रक्षा कीजिये।'

वात्यल्य प्रधान विष्णुकुमार ने मुनिपना छोड़कर विक्रियाऋद्धि से वामन (बौने) ब्राह्मण का वेश बनाया और यज्ञमण्डल में जाकर सुमधुर वचनों से राजा बलि को प्रसन्न कर दिया। बलिराजा ने कहा : 'जो चाहो माँग लो।' बौने ब्राह्मण ने कहा : 'मुझे सब बात का संतोष है, मैं कुछ नहीं चाहता।' लेकिन जब राजा ने विशेष आग्रह किया, तब उन्होंने कहा कि 'ठीक है; आपका इतना आग्रह है तो मुझे तीन डग भूमि दे दीजिये।' राजा ने आश्चर्यपूर्वक तीन डग धरती देने का वचन दिया और कहा कि 'महाराज! आप अपने पैरों से तीन डग धरती नाप लीजिये।'

बस, फिर क्या था... बौने ब्राह्मण का रूप एकदम बढ़ने लगा... दुष्ट बलि उसे देखता ही रह गया। अरे! यह क्या? विष्णुकुमार ने कहा : 'अरे दुष्ट बलि! देख; मेरा एक पाँव तो मेरु पर्वत के ऊपर है और मानुषोत्तर पर। बोल, अब तीसरा कहाँ रखूँ?' विष्णुकुमार की उस महान विक्रिया से पृथ्वी पर चारों ओर कोलाहल मच गया। देव भी आश्चर्य से घबराकर वहाँ दौड़ आए और दुष्ट

बलि को बाँधकर विष्णुकुमार की स्तुति करते हुए कहने लगे कि 'प्रभो! क्षमा करो... क्षमा करो! यह दुष्ट बलि का दुष्कृत्य है; वह आपके चरणों में उपस्थित है। कृपा करके अपनी विक्रिया को समेट लीजिये!'

बलि आदि मंत्री भी विष्णुकुमार के चरणों में गिर पड़े और अपने घोर अपराध के लिये बारम्बार क्षमायाचना करने लगे... अपने महा पाप कार्य पर पुनः पुनः पश्चात्ताप किया। तुरन्त अकंपनाचार्य आदि ७०० मुनिवरों का उपसर्ग एकदम दूर हो गया; विष्णुकुमार ने विक्रिया भी समेट ली और सर्वत्र शांति छा गई। राजा, चारों मंत्री तथा समस्त प्रजाजन अत्यन्त भक्ति पूर्वक अकंपनाचार्य की वंदना करने लगे और चारों मंत्रियों ने उनके चरणों में गिरकर अपने घोर अपराध के लिये क्षमायाचना की। इतना ही नहीं; किन्तु हिंसामय मिथ्यामत को छोड़कर जैनधर्म के उपासक बने। जैनधर्म के जय-जयकार से हस्तिनापुरी नगरी गूँज उठी।

इसप्रकार ७०० मुनियों का उपसर्ग दूर होने पर मुनिवर आहारचर्या के लिये नगर में पधारे... मुनिवरों को अपने आंगन में आया देखकर हस्तिनापुर के श्रावकों का रोम-रोम हर्ष से पुलकित हो उठा... सारे नगर में अभूतपूर्व उत्सव छा गया। घर-घर में श्रावकजन नवधाभक्ति पूर्वक मुनियों को आहार देने लगे... मुनिभगवन्तों को देख-देख कर सारा नगर मानों वात्सल्य के समुद्र में डूब गया!

वह दिवस था श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का... वात्सल्य-प्रवाह के कारण उसे 'वात्सल्य पूर्णिमा' कहा गया; मुनिवरों की रक्षा का महान पर्व होने से वह दिन 'रक्षापर्व' कहलाया।

जिन श्रावकों ने मुनिसंघ का उपसर्ग दूर होने के पश्चात् अन्न-जल ग्रहण करने की प्रतिज्ञा ली थी, उन्होंने भी मुनिवरों को भक्तिपूर्वक आहारदान देने के पश्चात् स्वयं आहार लिया। श्री विष्णुकुमार मुनि भी मुनिरक्षा का कार्य पूर्ण करके गुरु के पास गये और स्वयं मुनिपने से च्युत हुए थे, तत्सम्बन्धी योग्य प्रायश्चित् लेकर पुनः मुनिपना अंगीकार करके, उग्र आत्मध्यान की श्रेणी द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया।—वे परम वात्सल्य धारी विष्णुकुमार मुनि हमारी भव समुद्र से रक्षा करें।

दिव्यरूप दिव्यध्वनि

अहो ! इन्द्र जैसे महापुरुष भी हजार-हजार नेत्रों द्वारा जिनका रूप देखकर तृप्त नहीं होते, उन तीर्थंकर देव के दिव्यरूप की क्या बात कहें... !

—और—

आत्मानन्द को दर्शानेवाली तथा भव्य जीवों के हृदय में अमृत बरसानेवाली तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि की क्या बात ! धन्य है उस ध्वनि को, जिसे सुनने में तल्लीन जीवों को भूख-प्यास का भी ध्यान नहीं रहता; आपस का बैर भाव भी शांति हो जाता है और वे अन्तर की गहराई में उतरकर आत्मिक आनन्द को प्राप्त करते हैं !

❀ ❀ ❀

वीर संवत् २४८२ के अषाढ़ महीने में पूज्य गुरुदेव का एक अद्‌भुत प्रवचन हुआ; उसे सुनकर प्रसन्न हुए एक जिज्ञासु ने रात्रि को तत्त्वचर्चा के समय गुरुदेव से पूछा कि—'आपकी वाणी में भी ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का प्रवाह निकलता है तो सीमंधरभगवान की दिव्यध्वनि कैसी होगी !!'

'अहा, उसकी क्या बात !!'—प्रश्न पूरा होते ही उसके उत्तर में गुरुदेव के हृदय में से अत्यन्त बहुमानपूर्वक उद्‌गार निकले। भगवान को तो केवलज्ञान है; इसलिये उनकी वाणी तो एकसाथ अखण्ड रहस्य लेकर आती है। यहाँ तो आगे-पीछे की संधि का विचार करना पड़ता है; और भगवान की वाणी में तो समस्त रहस्य एकसाथ निकलते हैं। अहा ! भगवान की दिव्यध्वनि... वह तो मानो अमृत है !... शांतरस का मानो स्रोत बहता है !! गणधर जैसे जिसके श्रोता हों, उस वाणी की क्या बात ! गणधर और मुनि भी एकाग्र चित्त होकर सुनते हैं... अरे ! तिर्यंचों के समूह भी तल्लीन हो जाते हैं।

छह खण्ड के महाराजाधिराज चक्रवर्ती और स्वर्ग के राजा इन्द्र भी भक्तिपूर्वक घुटने टेककर, हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक भगवान से प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभो ! भव्य जीवों के हितार्थ उपदेश दीजिये।' इसप्रकार जिसके लिये इन्द्र और चक्रवर्ती भी प्रार्थना करते हैं... और उस प्रार्थना के निमित्त से इच्छा के बिना भी सर्वज्ञ भगवान के सर्वांग से वाणी का प्रवाह छूटता है—उस दिव्यध्वनि की महिमा की क्या बात !!

सुवर्णपुरी-समाचार

पूज्य स्वामीजी द्वारा प्रवचनों में सबेरे नियमसारजी शास्त्र तथा दुपहर में श्री समयसारजी शास्त्र चालू है। उपरान्त—मोक्षमार्गप्रकाशक दो दफे पुरुषों में स्वाध्याय में चलता है तथा जिनेन्द्र पूजन, जिनेन्द्र भक्ति, रात्रि में ८ से ९ तक तत्वचर्चा वगैरह कार्यक्रम यथावत् चालू हैं।

दशलक्षण पर्व

हर साल की माफिक बड़े उत्सव के साथ मनाया गया था। प्रवचनों में पद्मनंदि पंचविंशति में से दस लक्षण धर्म तथा समयसारजी के कर्ताकर्म अधिकार के ऊपर भेदज्ञान प्रेरक अद्भुत प्रवचन हुए थे। दुपहर में श्री पद्मनंदि आचार्य कृत स्वयंभू स्तोत्र चोबीस तीर्थंकरों की स्तुति पर भक्तिभाव से भरपूर प्रवचन हुये थे। तथा उसी शास्त्र में से जिनेन्द्र पूजा अष्टक पर जिनेन्द्र पूजा सम्बन्धी भक्ति रस से भीगे हुए भारी रोचकता पूर्वक प्रवचन हुए थे। उसे सुनते-सुनते श्रोताओं को ऐसा प्रतीत होता था कि—हम सभी यहाँ वर्तमान में ही स्वामीजी के साथ-साथ अष्ट प्रकार से चौबीस जिनेन्द्र देवों का पूजन कर रहे हैं। इस उपरान्त जिन मन्दिर में हमेशा समूह पूजन, तथा दस लक्षण मंडल विधान तथा रत्नत्रय विधान अच्छी सजावट पूर्वक हुआ था। भाद्रपद सुदी पंचमी के दिन दो कुमारिका बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी। जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा, ज्ञान पूजा आदि हुये थे। सुगन्ध दशमी के दिन दश पूजन, दश स्तोत्र वगैरह पूर्वक धूपक्षेपण भी हुआ था। यथाशक्ति उपवास भी हुवे थे। दस लक्षण पर्व की पूर्णता बाद आश्विन बदी १ को क्षमावाणी पर्व का उत्सव मनाया गया था और जिनेन्द्रदेव का जल से अभिषेक हुआ था।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा

सोनगढ़ में दस लक्षण पर्व में भाद्रपद सुदी पंचमी के दिन दो कुमारिका बहिनों ने पूज्य स्वामीजी के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा अंगीकार की।

(१) श्री रमा बहिन (कोठारी रामजी भाई पोपटलाल की सुपुत्री, [मालिया-हाटी] वय वर्ष-२१)

(२) श्री आशा बहिन (सेठ उमरावप्रसाद फूलचन्दजी की सुपुत्री, खंडवा, वय वर्ष-२०)

ये दोनों बहिनें बाल ब्रह्मचारी हैं, कितनेक समय से पूज्य गुरुदेव के सत्समागम का लाभ लेती हैं। समझदार हैं, तत्वज्ञान में जिज्ञासा पूर्वक वैराग्यवंत हैं और पूज्य बहिन-श्री-बहिन (जो बहिनों के ब्रह्मचर्याश्रम की अधिष्ठाता हैं) की मांगलिक छाया में तत्वज्ञान का अभ्यास करती हैं। छोटी वय में आत्महित की दृढ़ भावना द्वारा ऐसा उत्तम कार्य करने के लिये उक्त दोनों बहिनों को धन्यवाद।

****

पाठकों को सूचना

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, प्रथम भाग द्वितीय संस्करण छपकर तैयार हो गया है। जिन्हें चाहिये शीघ्र मंगा लेवें। मूल्य १) रु० है। पोस्टेज अलग

प्रेस में छप रहे हैं

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें, द्वितीय भाग

समयसार हरिगीतिका (हिन्दी पद्य में)

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला, द्वितीय भाग

पाठक गण प्रतीक्षा करें

जिज्ञासुओं के लिये स्वर्णावसर

आसोज सुद १५ तक के लिये कुछ ग्रन्थों के मूल्य में कमी

१ — लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

जो तत्त्वज्ञान में प्रवेश पाने के लिये गाइड (-मार्ग दर्शिका) है, जैन तत्त्वज्ञान में सुगय शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित रोचक, स्पष्ट और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर है, जैन-जैनेतर सभी में प्रचार होने योग्य है। मूल्य -०-१९ नये पैसे। एकसाथ २५ बुक में १२ ॥) टका कमीशन, और १०० बुक पर २५) टका कमीशन देंगे।

२ — श्री समयसार प्रवचन भाग ३, हिन्दी - ४ ॥) वाला अर्ध मूल्य में

३ — भेदविज्ञानसार '' २) '' '' ''

४ — श्री जैन तीर्थक्षेत्र पूजा पाठ संग्रह (बड़ा)

जो भक्तिपूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये तथा प्रत्येक जिनमंदिर के लिये उपयोगी है। जिसमें प्राय: देशभर के सब जैनतीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं वे है। और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत जानकारी, कहाँ से कहाँ कैसे जाना इत्यादि वर्णन है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १-४५- पोस्टेजादि अलग। १० पुस्तक एक साथ लेने पर २५) प्रतिशत कमीशन, और एक ग्रन्थ में दस टका कमीशन।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	समयसार पद्यानुवाद	।)
आत्मावलोकन	१)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।